पलाश-वन

(कविताएँ : जून, १९३९—जुलाई, १९४०)

पलाश-वन

[कविताएँ जून, १९३९–जुलाई, १९४०]

नरेन्द्र

वीरेश्वर, केदार और शमशेर को,
हिन्दू बोर्डिंग हाउस के दिनों की
सुख-स्मृति में

क्रम

शीर्षक

पलाश

आया था हरे-भरे वन में पतझर, पर वह भी बीत चला !
कोंपलें लगीं, जो लगीं नित्य बढने, बढ़ती ज्यों चन्द्रकला !

चम्पई चाँदनी भी बीती, अनुराग-भरी ऊषा आई,
जब हरित-पीत पल्लव-वन मे लौ-सी पलाश-लाली छाई !

पतझर की सूखी शाखों मे लग गई आग, शोले दहके !
चिनगी-सी कलियाँ खिलीं और हर फुनगी लाल फूल लहके !

सूखी थीं नसें, बहा उनमें फिर बूँद बूँद कर नया खून,
भर नया उजाला डालों में खिल उठे नए जीवन-प्रसून !

अब हुई सुबह, चमकी कलगी, दमके मखमली लाल शोले !
फूले टेसू—बस इतना ही समझे पर देहाती भोले !

लो, डाल डाल से उठी लपट ! लो, डाल डाल फूले पलाश !
यह है वसत की आग, लगा दे आग जिसे छू ले पलाश !

लग गई आग; वन में पलाश, नभ में पलाश, भू पर पलाश !
लो, चली फाग; हो गई हवा भी रगभरी छू कर पलाश !

आते यों, आएँगे फिर भी वन मे मधुऋतु-पतझार कई,
मरकत-प्रवाल की छाया में होगी सब दिन गुञ्जार नई !

तुम आती हो

तुम आती हो तो
बादल-सा हट जाता है,
सब आसमान खुल जाता है,
खिल जाती है पल मे प्रसून-सी नरम धूप !

करुणा की किरणो के नीचे
लेटी सुख से आँखे मीचे
हँसती है सतरंगी बूँदे—सस्मित आनन पर
आँसू के मोती अनूप !

तुम आती हो—
घन-सा विषाद घुल जाता है,
अवसाद शेष धुल जाता है,
छाया मलीन पल मे विलीन हो जाती है—हो जाता है
पल मे मेरा कुछ और, और से और रूप !

चाँद्नी

चाँदनी आज कितनी सुदर,
समदृष्टि हुई छबि की सब पर !

किसने जग के दृग-पलकों में सुख का सपना साकार किया ?

राकेश गगन के आँगन मे,
मेरे शशि तुम मेरे मन में,

भावो से भर भव का अभाव किसने ससार सँवार दिया ?

फूटा उर मे निःस्वन निर्भर,
यह भू मनहर, वह नभ निर्भर,

क्या तुमने नयनो मे मुसका चुपके से विश्व निहार लिया ?

चाँदनी में भ्रम

वह अचेतन चेतना-सी जागती जो
स्वप्न बन सोते जगत में चाँदनी,
स्नेह की सुरभित नशीली साँस-सी वह
बस गई मेरे हृदय में चाँदनी !

पास आती और पल में दूर जाती,
खेल यों रातो खिलाती चाँदनी !
बात वह करती न, सोने भी न देती
मुसकुराते मौन वाली चाँदनी !

चाहती जब टोहती मन, मोहती मन
सौंपती सर्वस्व जैसे चाँदनी !
चाहती जब अपरिचित अनजान बनती,
देखता मैं दूर बैठा चाँदनी !

पास से जाती, न मन से दूर जाती,
है न क्या मेरी प्रिया-सी चाँदनी ?
विकल जल-सा रात भर मुझको जगाकर,
पास आ पागल बनाती चाँदनी !

फूल में ज्यों गंध भरती बंध हरती,
भर गई मन-से सदन में चाँदनी !
सब जगह सैलाब जैसी, आब जैसी,
भर गई निर्भर विजन मे चाँदनी !

चाँदनी के पूर में सब विश्व डूबा
पैरती जिसमें परी-सी चाँदनी !
एक मन, दो पुतलियाँ क्या, डुबा आई
व्योम के लाखो नखत यह चाँदनी !

कहाँ आहत विश्व दुख की आह भरता,
आ गई सुख की प्रलय-सी चाँदनी !
कौन अब जग में असुन्दर ? कालिमा जब
धो गई सब के हृदय की चाँदनी !

लो, अकूल प्रवाहिनी वह सिमट बैठी
मालती के फूल में अब चाँदनी !
कहीं मेरे स्पर्श से कुम्हला न जाए
सूक्ष्म है मेरी प्रिया-सी चाँदनी !

खुली खिड़की से अचक चुपचाप आती
वह हृदय के चोर जैसी चाँदनी !
मधुर मद से मूँद देती दृग अचानक
खिलखिला पल में विलाती चाँदनी !

खोजता था मैं विजन में, पर न मन में
देखता था बस गई थी चाँदनी !
वह वहीं घर मे कभी से मुसकुराती
खड़ी आँगन मे अकेली चाँदनी !

चाँदनी मधुयामिनी की कामिनी-सी
उर खिलाती, दुख भुलाती चाँदनी !
गर्विता है, रूठ जाती, मान करती,
सुधि जगा फिर से रुलाती चाँदनी !

मधुर स्मिति से आर्द्र दृग मेरे हँसाती,
क्या न मेरी प्रिया-सी यह चाँदनी ?
डूबते दिल को उबार सँवार कहती,
'जल नहीं हूँ, ज्योति हूँ मैं चाँदनी !'

आत्म-समर्पण

सौ टूक हो गया चाँद
टूट लहरों पर,
हो गया हृदय जैसे
तुम पर न्यौछावर !

जल-जुगनू बनता चन्द्रहास
ज्यो जल पर,
उड़ गया, प्राण, सौ भावो
मे मम अन्तर !

तुम ज्योति, भाव ये
ज्योति-शलभ बन बन कर,
भर रहे तुम्हारे
ज्योति-कणों से अम्बर !

लौ चूम शलभ
बन जाता जैसे दीपक,
मेरी मिट्टी से खिलते
पाटल चम्पक !

पद चूम, हृदय की
पावक बनती जावक,
बन फूल बिहँसते
पाँवो मे नभ-तारक !

ये फूल रहें उन
चरणो मे चिर-अपलक !
सौन्दर्य-शील, जिन
चरणों में नत-मस्तक !

था ताल एक; मैं बैठ गया,
मैने सकेत किया, 'आओ,
रवि-मुकुर! उतर आओ अस्थिर
कवि-उर को दर्पण बन जाओ!'

मै उठा, उठा वह; जिधर चला,
मेरे सँग-सँग चल दिया चाँद!
मैं गीतों मे, वह ओसों मे
बरसा औ' रोया किया चाँद!

क्या पल भर भी कर सकी ओट
झुरसुट या कोई तरु-डाली,
पीपल के चमकीले पत्ते
या इमली की झिलमिल जाली?

मैं मौन विजन मे चलता था,
वह शून्य व्योम में बढता था;
कल्पना मुझे ले उडती थी,
वह नभ में ऊँचा चढता था!

मैं ठोकर खाता, रुकता वह;
जब चला, साथ चल दिया चाँद!
पल भर को साथ न छोड सका
ऐसा पक्का कर लिया चाँद!

अस्ताचलगामी चाँद नही क्या
मेरे ही टूटे दिल-सा?—
टूटी नौका-सा डूब रहा,
जिसको न निकट का तट मिलता!

वह डूबा ज्यों तैराक थका,
मैं भी श्रम से, दुख से टूटा !
थे चढे साथ, हम गिरे साथ,
पर फिर भी साथ नही छूटा !

अस्ताचल में ओझल होता शशि
मैं निद्रा के अञ्चल मे,
वह फिर उगता, मै फिर जगता
घटते-बढ़ते हम प्रतिपल में !

मैंने फिर-फिर अजमा देखा
मेरे सँग-सँग चल दिया चाँद !
वह मुझ-सा ही जलता-बुझता
बन साँझ-सुबह का दिया चाँद !

सामने का नीम

एक वह तरु नीम मुझ-सा ही अकेला खड़ा है जो सामने—

पत्तियों से, बौर से सब
भर गया तन, ख़ुश हुआ मन,
बौर की मधुगंध फैली
झर गए ज्यों जीर्ण बन्धन,

एक मैं हूँ, सूखता तन और मन मे छलकती छल-व्यथा भर दी राम ने!

नीम क्या, रवि से बड़ा कवि,
पर कहाँ अब वह, कहाँ मैं!
नीम जड़, मैं मनुज चेतन
उठ रहा वह, गिर रहा मैं!

मैं समाया गर्त में अब, शर्म से मुझको दबाया हर जतन, हर काम ने!

चैत की मधु चाँदनी में
नीम देखे मधुर सपना,
और मैं? मैं ज्यों दिवस के
चाँद-ऐसा प्रेत अपना!

सार जीवन का भुलाया, भार जीवन का बढाया हर घड़ी, हर याम ने!

देखता हूँ दूर बैठा
नीम की मञ्जरित डाली,
वायु जिससे खेलती, पिक ने
जिसे अपनी बना ली;

तू अकेला है अकेला, कहा मुझसे हर सुबह, हर शाम ने!

आज कड़वा नीम, मीठी
गंध अग-जग को लुटाता,
और मैं छिद वेदना से
खार के आँसू बहाता!

व्यंग को कुछ और भी कड़वा बनाया आज इस मेरे निरर्थक नाम ने!

बीती रात

कुम्हला गई चाँदनी जैसे निशिगंधा का फूल !

तारे चूने लगे, फूल ज्यो झरते शेफाली से;
अस्ताचल पर गिरा चाँद, ज्यों पका आम डाली से;

झीना हुआ चाँद-तारो से नभ का नील दुकूल !

कलियाँ जागी, चिड़ियाँ जागीं, जाग उठी मलयानिल;
शरमा रही उषा, शरमातीं आँखों से आँखें मिल;

डूबा शुक्र—सुबह का सपना—नभ-नयनों मे फूल !

जग से जाते-जाते निष्प्रभ हुआ चाँद का मुखड़ा,
चलती-फिरती दुनिया रोने लगी काम का दुखड़ा,

दिवा-प्रभा से दबी विभा, ज्यों दबी ओस से धूल !

एक ओर चाँदनी दूसरी ओर स्वर्ण-अरुणाभा,
जिनके बीच जगत की गति-सी बहती धुँधली द्वाभा,

मिलन-विरह या निशा-उषा दो रजत-स्वर्ण उपकूल !

मार्ग मेरा

अगम नभ-सा मार्ग मेरा, शून्य नभ-सा मार्ग मेरा,
हृदय खंडित इन्दु-सा है—
इन्दु, पागल इन्दु, चञ्चल इन्दु-सा है !

सदा घटता और बढता,
प्रिय उसे जग की तरलता,
चेतना की प्यास लेकर
सदा चल जल पर मचलता !

वही खडित फूल-प्याला
विकल चलदल पर विकम्पित,
भ्रांति का संदेशवाहक,
जन्मदाता से सशकित !

विम्ब वह भी, चाहता पर
विश्व पर प्रतिविम्ब छोडे,
टूटता जाए स्वयम्, पर
सलिल से सम्बन्ध जोडे !

नित अनिश्चित घूमती-फिरती नदी-सा मार्ग मेरा,
हृदय खडित इन्दु-सा है—
इन्दु, पागल इन्दु, चञ्चल इन्दु-सा है !

खंडित पात्र

कैसे बुझाऊँ प्यास—मेरा हृदय खंडित पात्र !

मृत्यु से माँगा हलाहल
प्यास से होकर विकल जब,
हँसी श्यामा सुन्दरी वह
भर दिया प्याला लबालब,

लब न छू पाए गरल, यह हृदय खंडित पात्र !

बेबसी की बात है यह
मै न जीवित ही, न मृत ही,
चाह थी पर जब अमृत की
था मिला मुझको अमृत भी,

किन्तु खडित इन्दु-सा यह हृदय खंडित पात्र !

भूल अपनी प्यास मैंने
दे उन्हे भी स्नेह देखा,
चंद्र-रेखा भले ही बदले
न बदली भाग्य-रेखा,

मैंने दिया जिसको हृदय, वह हृदय खडित पात्र !

दीपावली

घर घर जली दीपावली !
आज तू भी मिलन का दीपक सँजोले, बावली !

पहन नौलख हार, युग कर—
लिए दीपित थाल, तन पर—
डाल हीरक-खचित अम्बर,
देख कब से खड़ी तेरे द्वार श्यामा साँवली !
घर घर जली दीपावली !

दीप्त पथ के क्षुद्र कण हैं,
आरती-रत आभरण हैं,
बढ़ रहे किसके चरण हैं ?
गोद-गृह भर श्री चली, प्रति पग खिली रत्नावली !
घर घर जली दीपावली !

स्नेह-सिञ्चित मृत्तिका-सम
हो उठा उर्वर सघन तम,
खिल उठा उपवन मनोरम,
वर्तरी के वृन्त है, जिन पर खिली ज्योतित कली !
घर घर जली दीपावली !

ज्योति के शत पुष्प खिलते,
ज्योति से जब नयन मिलते,
वात-कम्पित फूल हिलते,
तम अमा का, ज्यों शमा के फूल पर भ्रमरावली !
घर घर जली दीपावली !

तिमिर-माया-जाल को हर,
ज्योति से जीवन गया भर,
रहेगा ज्योतित निरन्तर,
ज्योति-चुम्बन से हृदय के दीप की बाती जली!
घर-घर जली दीपावली!

अल्मोड़े की युवती

फैला है बन कर शुभाशीष
नीलाम्बर खुला धुला ऊपर,
हैं चमक रहे नीचे तृण-तरु,
गृह-वन-पर्वत सस्मित भू पर !

उस महाकाश की शोभा है
आभानिकेत ज्यो उदित सूर्य,
कूर्मांचल की निधि अल्मोड़ा,
कूर्मांचल का सांस्कृतिक सूर्य !

पर नभ का रवि देता प्रकाश
अपने शशि को, अल्मोडे की
आभा सौभाग्यवती युवती,
वह इन्दुमती अल्मोडे की !

अल्मोडे की वह इन्दुमुखी
है सहज भाव से खडी द्वार,
ज्यों जन्म सुफल, पुलकित पुष्पित
सामने खडा है गुलवहार !

है खिली धूप, ज्यो खिला रूप,
सुन्दर सुकुमार शरीर गौर !
घर निखर रहा, जैसे यौवन,
हँसतीं दीवारें, द्वार, पौर !

पहने सफ़ेद कुर्ती, ऊपर से
लाल-लाल सादी . धोती,
अल्मोडे की युवती, प्रवाल
की सीपी मे मन्जुल मोती !

भर गई देह, भर गई माँग
चोटी लटकी है घुटनों तक,
शोभित गौरा के मस्तक पर
अक्षय सुहाग का लाल तिलक !

शिव के मस्तक पर बालचंद्र
गिरिसुता-माथ पर बालारुण,
शाश्वत हो यह सौभाग्य-सूर्य
शाश्वत, गृह-शोभा ज्योति अरुण !

कूर्माचल

जिसकी शोभा को देख अचल हो गए अचल,
वह कूर्माचल !
जिसके गौरव से गर्वोन्नत ये गिरि-पर्वत,
वह कूर्माचल !
करते हैं जिसका कीर्तिगान नदि-नद महान,
वह कूर्माचल !
निश्छल निर्झर-से नारी-नर जिसके सुन्दर,
वह कूर्माचल !

है कूर्म आदि-आधार धरा का, आभूषण
पर कूर्माचल !
है जिस पर स्थित नम कूर्म-सदृश शाश्वत श्यामल,
वह कूर्माचल !
मरकत-पर्वत, मोती की लड़ियो-से निर्झर
रल-मल झल-मल,
मणि-जटित मुकुट सयुक्तप्रान्त का ज्योतिकान्त
वह कूर्माचल !

नीले नभ की चञ्चल छाया जिसकी निर्मल
नदियो का जल,
जिसके पर्वत प्रतिविम्बित ज्यों नभ के बादल,
वह कूर्माचल !
वह वसुन्धरा औ' स्वर्गलोक का लाल लाड़ला
कूर्माचल !
भू-स्वर्ग मुझे, तपसी को बना स्वर्ग-सीढी
वह कूर्माचल !

पर्वत पर तरु, तरु पर तरु, पर्वत पर पर्वत,
फिर नभ निर्मल,
ज्यो माँ के घुटनों पर चढता जाता शिशुवत्
वह कूर्मांचल !
लो, स्वयम् बना अब सिद्धराज स्थिर शान्त अचल
वह कूर्मांचल !
उन्नत ललाट तप-तेजस्वी, शिर हिम-किरीट,
नभ छत्र अटल !

देवाधिदेव, सुर, मुनि, किन्नर, मानव, बानर
का कूर्मांचल !
मानवी मधुरिमा की पूनों की सकल कलाएँ
जिसमें पल,
पार्वती, किन्नरी, परी, अप्सरा, सहोदरा—
खिलतीं उज्ज्वल !
साहित्य कला का उद्गम वह सरिताओं का,
वह कूर्मांचल !

आतप के कुलिश-शरों से जब हो जाता है
वसन्त घायल,
वह जिसके आँचल मे आश्रय पा जी उठता
वह कूर्मांचल !
जिसकी छाती पर सिर धर कर सुख-दुख की कह
रोते बादल,
आ जिसके वन मे आहें नित भरती समीर,
वह कूर्मांचल !

जिसके सुन्दर विश्वासों-से दृढ़ सरल चीड़,
वह कूर्माचल,
जिस देवभूमि में देवालय-से देवदारु
सुरभित शीतल,
औ' बुद्ध बाँज जिनमें जीवन की धूप-छाँह,
वह कूर्माचल !
सुन्दर शुभ भावों-से जिसके फल-फूल-विहग,
वह कूर्माचल !

छिछली नदियों के तीर जहाँ छिड़ती मछुओं की
तान तरल,
अब भी जिसके देहातों मे बजती वंशी
वह कूर्माचल !
यो तो चिर-सुन्दर निखिल सृष्टि, पर सब से सुन्दर
कूर्माचल !
वह सुन्दर से सुन्दरतर है, सुन्दरतम है
वह कूर्माचल !

हे कूर्माचल ! तेरी सेवा को लालायित हैं
अचल अचल !
पक्षीकुल कल रव मे गाते, सरिताएँ गुण गातीं
कल कल !
नित रजत-स्फार के हार बना निर्झर झरते
रल-मल झल-मल !
घाटी बन गई क्षीर-सागर जब पूजा को
आए बादल !

आता वसन्त, लाता पूजन को रुचिर फूल,
अति मधुमय फल !
बहती समीर, बहती तरु तरु के पत्रों से
वन्दना विकल !
ऋषि-मुनि अर्पित करते अपने पावन जीवन के
दुर्लभ पल !
अत्यन्त अकिञ्चन कवि क्या दे ? है प्रणत भाल मम,
कूर्मांचल !

कौसानी

यह नई धरा, आकाश नया,
यह नया लोक मिल गया मुझे !
थी आत्मा जिसके हित अशान्त
वह शान्त लोक मिल गया मुझे !

इसके तरुओं की छाँह नई
इसकी बयार में नया परस,
कौसानी का जादू ऐसा—
दो-चार बरस, दो-चार दिवस !

शायद न कभी मुरझाते हों
जीवन-डाली से यहाँ फूल,
दो-चार बरस के सुख-दुख मैं
दो-चार दिवस में गया भूल !

दो-चार बरस रहता यदि मैं
दो-चार दिवस-सा ही लगता,
कौसानी का जादू ऐसा
मैं कभी न पल-छिन गिन सकता !

है यहाँ नीर में नया स्वाद,
चिड़ियों के रव में नया चाव,
मैं भूल गया अपने अभाव,
भर गए हृदय के सभी घाव !

जो जन-रव में न मिली, न मिली
जो किन्नरियों के कल रव मे,
वह शान्ति मुझे मिल गई यहाँ
इस कौसानी के नीरव में !

मन के सब शका-शोक बुझे
हो गया विश्व फिर नया मुझे !
यह नई धरा, आकाश नया,
यह नया लोक मिल गया मुझे ?

कोसी की हरित-भरित घाटी
करती है सुख से शान्त शयन,
प्रहसित संकुचित गात शोभित
नव-धान-वरन परिधान पहन !

सिरहाने रक्खा शीश-मुकुट
वह कहलाता है कौसानी,
जिसके कारण कहलाती वह
कूर्माचल भर की पटरानी !

कोसी की हरित भरित घाटी—
हम उसकी करवट से निकले,
जब पार कर चुके सोमेश्वर
ज्यों सहसा जगे पुण्य पिछले !

हम दौड़ रहे थे द्रुत गति से
सामने खड़ी थी कौसानी,
उस क्षण न्यौछावर थे बादल
था बरस रहा रिम-झिम पानी !

जड़ घन क्या, मैं क्या, उस छवि पर
न्यौछावर हो जाते ज्ञानी,
मैं मंत्रमुग्ध सँभला कि तुरत
आ गई स्वप्नवत् कौसानी !

थी नई धरा, आकाश नया,
था नया लोक मिल गया मुझे !

वह छिना हुआ छवि का सपना,
फिर कवि अपना मिल गया मुझे !

यह गिरि गिरिजा कौसानी की
सामने पड़ा शिव का पडाव,
कौसानी और हिमालय मे
तिल भर न परस्पर उर-दुराव !

वह सब से ऊँची, आस-पास
पर्वत-प्रदेश ज्यों विनतमाथ,
उत्तर मे कौसानी की छाया
मे सनाथ है वैजनाथ !

ज्यो हरे रेशमी दामन-सी
घेरे उर्वर घाटियाँ पडी,
कुछ मुक्त नील अलको-सी
जिन पर पड़ी हुई हैं निर्झरिणी !

यह तपोभूमि कौसानी है
तप की जीवित जाग्रत महिमा,
है कौसानी मे मूर्तिमान
तप-निरत साधनामयी उमा !

नदादेवी के तुङ्ग शिखर से
देख देख शोभा शकर,
हो गए हिमालय मे विजड़ित
तज ताण्डव नर्तन प्रलयकर !

इस देवभूमि कौसानी मे
आलोक नया मिल गया मुझे !
यह नई धरा, आकाश नया,
यह नया लोक मिल गया मुझे !

घिर आए उमड़ घुमड़ बादल,
पर्वत-प्रदेश मे ऋतु पावस,
ढॅक गया व्योम, छिप गया सूर्य
हो गई दिवस मे ही मावस

कर सॉय-सॉय चल पड़ी पवन,
कॉपा पल मे पर्वत का वन;
पशु-पक्षी खोज खोह-कोटर
भागे ले धुप-धुप करता मन !

कातर हो तुरत कराह उठे
वे ऊॅचे ऊॅचे बटे चीड,
हिल गए बॉज औ' देवदारु
उड़ती चिड़िऍ तज ध्वस्त नीड़ !

कड़-कड़ चड़-चड़ टूटते पेड़
करती कौसानी शक्ति-नृत्य,
विद्युत से प्रतिविम्बित, नर्तित
छाया-प्रेतों से दास-भृत्य !

दे पद-प्रहार घननाद-ताल
नाचती मत्त काली कराल,
लो, तड़क गया नभ इस्पाती
नेत्रो से निकली तड़ित-ज्वाल !

उड़ गई चेतना हृदय कौंध
ज्यो चकाचौंध हो गई मुझे,
यो शक्ति-रूपिणी कौसानी की
क्षणिक झलक मिल गई मुझे !

पल में हो गई प्रतिष्ठित अब
वह शान्तिमूर्ति तापसी उमा,

पल में आकाश धरा निखरे,
बिखरी दश दिशि स्वर्गिक सुखमा !

बन गया हिमालय हेमकूट,
वन—स्वर्णपत्र से ठौर ठौर,
आती हैं हँसमुख साँझ-उषा
ज्यो ओढे 'रँगवाली पिछौर*' !

फिर झिल्ली की झनकार हुई
कठकीडे को सगीत मिला,
कुहुकी निज पके हुए स्वर मे
उत्तराखंड की पिक प्रमिला !

अब सब थक कर चुप हो बैठे
कितनी प्रशान्त है कौसानी,
सब ओर कुशल, ईश्वर ऊपर,
निश्चिन्त शान्त वन के प्राणी !

नभ ज्यों योगी का निर्मल चित,
है धरा मौन ज्यो विनत भक्ति,
बापू के श्रीमुख से निकला—
'सतकर्म,अहिंसा, अनासक्ति !'†

वह कौसानी, वह कौसानी,
वह कौसानी मिल गई मुझे !

---

* पीली जमीन पर लाल छींट की ओढनी, जिसका अल्मोड़ा-प्रदेश बहुत ज्यादा चलन है।

† अनासक्ति-योग के नाम से गीता का भाष्य गाधी जी ने कौसानी मे किया था।

मैं महाभाग, बापू के मन की
कौसानी मिल गई मुझे !

हिन्दी के तेजस्वी लक्ष्मण*
की धाय बनी यह कौसानी,
छिन गई गोद जब जननी की
थी यह कौशल्या कल्याणी !

हिन्दी का तेजस्वी लक्ष्मण
कौशल्या के आँचल मे पल,
बन गया राम-सा विनयशील,
विक्रमी, मनस्वी, धीर, अचल !

जब मिली चुनौती, रूढ़िग्रस्त
शिव-धन्वा पल मे तोड़ दिया,
शत परशुराम नित क्रुद्ध हुए
उसने कविता-पथ मोड़ दिया !

कर धनुष-भंग पल्लव-पिनाक रच
कवि ने नव-निर्माण किया,
फिर काव्य-सुनीता सीता का
जब वरण किया वनवास लियो !

हिन्दी के तेजस्वी लक्ष्मण को
बना दिया विक्रमी राम,
यह कौशल्या की पुण्य-गोद-सी
है कौसानी पुण्यधाम !

---

* आशय श्री सुमित्रानन्दन पत से है, कौसानी जिनकी जन्मभूमि है। पत जी की माता का देहान्त पुत्र-जन्म के कुछ ही घटे बाद हो गया था।

यह रत्न-प्रसू कौसानी है
जो सहज आज मिल गई मुझे !
ज्यों बिना यत्न साकार स्वप्न-सी
कौसानी मिल गई मुझे !

है सज्ञा-शून्य व्योम शोभा लख,
मौन मूक नगपति नगेन्द्र !
उसका कैसे गुण-गान करे
जो व्यक्ति नाम का ही नरेन्द्र !

विद्युत के दीप जला बादल
सकीर्तन-रत कर-ताल बजा,
पूनो पहनाती विजयमाल—
दो इन्द्रचाप ले हार सजा !*

रवि-थाली मे धर धूप-दीप
आरती भारती भी उतार,
वदना कर रही हो जिसकी
कवि के उर मे मूरत सँवार,

उस देव-भूमि की गुण-गाथा
गाऊँ भी तो कैसे गाऊँ ?
किस पारिजात से भाव-पुष्प
मै उसके पूजन को लाऊँ ?

अनुभूति इन्द्रियों की सीमित,
भाषा की अक्षमताएँ हैं,

---

* चाँदनी रात में इन्द्रधनुष का यह अद्भुत दृश्य कौसानी से अकसर देखा जाता है। इन्द्रधनुष और सामने हिम पर उसकी छाया, दोनों मिल कर मालाकार प्रतीत होते हैं।

वर्णनातीत है पर वह छवि
जिसकी न कहीं सीमाएँ हैं !

मैं भूल गया निज सीमाएँ जिससे
वह छवि मिल गई मुझे !
जो दुर्लभ थी हो गई सुलभ
सच, कौसानी मिल गई मुझे !

रानीखेत की रात

शान्त है पर्वत-समीरण, मौन है यह चीड का वन भी !

बालको की बात-सी आई-गई-सी हो गई है बात,
नखत ज्यों आँसू-पुछे दृग, चुप हुई चुपचाप रो रो रात!

रुकेंगे निश्वास मेरे, शान्त होगा चिर-विकल मन भी !

रुकी झझा, फिर खडी दृढ सामने गिरि पर असित तरु-पाँत,
नील नभ ऊपर, हृदय ज्यों सह चुका आघात पर आघात !

खुलेगा निस्सीम नभ-सा एक दिन यह शून्य जीवन भी !

यह खुला नभ, यह धुला नभ, खिल रही यह चाँदनी अनमोल,
यह अमृत की वृष्टि, खिलती कुमुदिनी-सी सृष्टि दृग-उर खोल,

खुली कलियो-से खुलेंगे ही हमारे मोह-बन्धन भी !

मन समझाने की बात

जिसने दिया लिया भी उसने,
मन, तुमको क्यों पीड़ा होती ?
टिकना भी कितने दिन प्यारे,
ममता का वह मोमी मोती ?

सह न सका वह उर की ज्वाला,
रह न सका वह बन कर अपना;
गला मोम का मोती, जैसे
ढला दुपहरी का सुख-सपना !

पर क्यों उसका सोच-फ़िकर, मन
ऐसा ही होता आया है !
सब पर पड़ती सुख-दुख की
यों ही चलती-फिरती छाया है !

क्यों इतने अधीर, भोले मन ?
है ऐसा भी काहे का दुख ?
सुनो हमारी बात, सुनो जी,
अभी बहुत जीवन है सम्मुख !

ऐसा क्या हो गया तुम्हें जो
सोया भाग न फिर से जागे ?
ऐसा क्या खो गया तुम्हारा
सब जग सूना जिसके आगे ?

एक यहां क्या, दुख देखोगे
आने-जाने और कई जो !
एक मौत ही है ऐसी
आ एक बार फिर नहीं गई जो !

व्यथा बहुत हैं, और व्यथा की
कथा बहुत हैं इस जीवन में !
हाँ, अभाव के भाव रहे हैं
कभी-कभी सबके ही मन में !

पर सबको खाँसी ज़ुकाम भी
कभी कभी हो ही जाते हैं,
मन, हारी-बीमारी के दिन
कब तक रोज याद आते हैं !

व्यथा कथा बनती, फिर वह भी
याद नहीं रहती है सब दिन,
सब दिन जीवन के दिन किसके
कटते निशि-दिन साँसें गिन गिन ?

पति मर जाता, पत्नी जीती,
पत्नी मरती पति पति रहता;
वृद्ध पिता, विधवा मा रहती,
पुत्र छोड सबको चल बसता !

जब इतना तक सहता चलता
मृत्युग्रास बनने तक जीवन,
तो इतने-से दुख के कारण
काँप उठे तुम क्यों, मेरे मन ?

चींटी की आँखों से देखी
तुमने महाप्रलय जल-कण में,
की अनन्त की विशद कल्पना
तुमने अचिर क्षुद्रतम क्षण में !

महाशून्य में ताक रहे थे,
था सब कुछ संचित इस भू पर,

देखा ऊपर, देख न पाए
कौन सत्य पर सब के ऊपर !

उठो, मुक्ति-पथ के अनुगामी,
अब न कभी पीछे पग धरना !
मन, अब सोच फ़िकर मत करना
जीवन को निर्धन न समझना !

जिसने दिया लिया भी उसने,
मन, तुमको क्यों पीड़ा होती ?
टिकता भी कितने दिन प्यारे,
ममता का वह मोमी मोती !

आश्वासन

सब खेल ख़तम हो जाएगा,
है कुछ ही दिन की बात और !

मैं जिसका मन रखता आया,
अब रूठ गया मुझसे वह मन;
सब कुछ सहता आया जिसके
कारण, वह ऊब गया जीवन;

पर कुछ ही दिन का नाता है,
है कुछ ही दिन की बात और !

कहने को तो मैंने उसको
चाहा था प्राणों से बढकर,
था झूठ किन्तु, हम मर न सके
जब एक दूसरे से छुट कर !

शायद अब आशा पूरी हो,
है कुछ ही दिन की बात और !

मैं कभी न मिलने की कह कर
चल दिया, निरी कायरता थी,
उस पर भी छलना ने खोजे
फिर नए नए संगी-साथी !

वह छलना भी कितने दिन की
है कुछ ही दिन की बात और !

आसरा लिया था ममता का,
आसरा लिया कायरता का,
आँचल छिन गया स्नेह का जब
भर नयन मरुस्थल को ताका,

मरु भी मेरा उड़ जाएगा,
है कुछ ही दिन की बात और !

दुर्दिन न अकेले आते है,—
आया फिर मन मे स्वप्न नया,
वह भी टूटा, तृणवत् छूटा,
मुझसे मेरा विश्वास गया !

अब कैसे मन को समझाऊँ—
है कुछ ही दिन की बात और !

मीत तुम

दो दिन में बन गए निपट अनजान, मीत तुम !

है कल की-सी बात—रात-से श्याम खुले घन केश-पाश से
घिरे खड़े थे जब तुम मेरे सन्मुख चञ्चल चन्द्रहास-से !
मैं विमुग्ध तट-सा निश्चल था, जाना कब मैंने—पल भर में
दूर देश वह जाओगे तुम भी लहरी-से निकल पास से !

मैं रह गया शरीर मात्र, मेरे प्राणों के प्राण, मीत तुम !

तुम खंजन-से आए, क्षण भर खेल गए मेरे घर-आँगन !
खंजन-से तुम चटुल, चतुर खंजन-से तुम सुन्दर मनभावन !
दिवा-स्वप्न-सी एक झलक !—फिर दूर देश उड़ गए पलक मे,
तुम्हें रिझाने खड़े जहाँ ले रुचिर फूल-फल शत वन-उपवन !

सहज भुला दोगे जीवन की क्या पहली पहचान, मीत तुम ?

फिर अगाध इस स्नेह-सिन्धु का तुम्हें ध्यान भी आएगा क्या ?
जहाँ चोंच दो चोंच पिया जल ध्यान वहाँ का आएगा क्या ?
थाह भला तुम कैसे लेते सागर की ?—तुम नभ के पंछी !
पर कर उसकी याद दृगों में कभी नील घन छाएगा क्या ?

कौन कहे, सुन पाओगे भी मेरे सकरुण गान, मीत तुम !

तुम पर मेरा स्नेह वही था स्वाभाविक है जो अपनों पर,
जिसमें पाना इष्ट नहीं है, देना ही जिसमें श्रेयस्कर !
सीपी के मोती को ममता सौंपा करता ज्यों रत्नाकर,
घन विद्युत को, शशि को सूरज या ज्यों ताराओं को अम्बर,

मैंने दी ममता; मेरे थे कुछ कुछ इसी समान, मीत तुम !

हुआ न तेरा ही कोई

दिन सूरज का, रात चाँद की,
हुआ न तेरा ही कोई!

तारों और परिन्दों का नभ,
अचला सचराचर जल-थल की;
क्षण क्षण पर पहरा भावी का
गिनती जीवन मे पल पल की;

करता जो अपनों मे गिनती
हुआ न तेरा ही कोई!

शीतल कर धरती की छाती
नदियाँ सागर मे मिल जातीं,
नदियो में जल, जल मे लहरे
गलबय्याँ डाले बलखातीं;

भरता जो बाँहों मे अपनी
हुआ न तेरा ही कोई!

विरही भी मन बहला लेता
गिन सूने नभ के तारो को,
मन की बात सुना लेता वह
सूने घर की दीवारों को;

रे मन! सुख-दुख की सुनता जो
हुआ न तेरा ही कोई!

अब तो कहा मान, मन, मेरा—
जो तेरा था रहा न तेरा!
देख हुआ सच कहना मेरा—
चाहा जिसको हुआ न तेरा!

कर तेरा-मेरा कितना ही,
हुआ न तेरा ही कोई!

नभ ने बाहु-पाश फैलाया
उल्का को पर रोक न पाया,
टूट पात-सा गिरा धरा पर
मिली न, हाय, दिगञ्चल-छाया;

मृग को भी मिलती कस्तूरी,
हुआ न तेरा ही कोई!

मेरा मन

मेरा चञ्चल मन भी कैसा—
पल मे खिलता, मुरझा जाता !

जब सुखी हुआ, सुख से विह्वल;
जब हुआ दुखी, दुख से बेकल;
वह हरसिंगार के फूलों-सा
सुकुमार, सहज कुम्हला जाता !

फूला न समाता .खुश होकर
या घर भर देता रो रो कर;
या तो कहता, 'दुनिया मेरी !'
या, 'जग से मेरा क्या नाता ?'

मेरे मन की यह दुर्बलता,
सामान्य नहीं निज को गिनता;
वह अहंकार से उपजा है,
इसलिए सदा रोता गाता !

मै हूँ विशेष, मै हूँ विशिष्ट,
कहता विधि से यो वह अशिष्ट;
भ्रमवश चलता .खुश .खुश हँस कर
चल जरा दूर ठोकर खाता !

मैंने बहुतेरा समझाया,
मन अब तक समझ नहीं पाया—
वह भी मिट्टी से ही निकला,
फिर मिट्टी ही मे मिल जाता !

सोना या क्षार ?

मुझे बनाओगे सच्चा सोना या क्षार ?

तप्त हथेली में ले ले कर
क्षण क्षण अधिक तपाते जाते,
मेरी छोटी-सी हस्ती को
तिल-तिल नित्य मिटाते जाते,

कौन प्रयोजन इस जीवन का ?—सार या कि निस्सार ?

छीन चुके हो सुख की छाया,
व्यर्थ बताते ममता-माया,
मानस ऊसर-देश बनाया,
रोग-ग्रस्त क्षय होती काया,

आत्मा मुक्त करोगे या बस छीनोगे आधार ?

सदा मग्न मन जिनमें रहता
भंग भग्न हो हुए स्वप्न सब,
एक एक कर विफल हो गए
मेरे उर के चतुर यत्न सब,

टूट गिरे कल्पना-रचित रत्नों के बन्दनवार !

सोना छूता, मिट्टी होता;
अधरों को मधु विष बन जाता;
जहाँ स्नेह-सागर लहराता
हृदय, घृणा का मरु बन जाता;

तिरस्कार से जलते लोचन हँसा जहाँ सत्कार !

कुछ दिन और, और कुछ दिन, फिर
आगे मोह-तृष्णा के क्रम से
केवल उदासीनता होगी,
फिर सब ढँक जाएगा तम से !

क्या यह सुख समेटने वाले भ्रम का ही उपचार ?

किन्तु मुझे बतलाए कोई
कौन रहस्य छिपा इस क्रम में ?
मुझको कोई राह दिखाए
मन के भ्रम में, विस्मृति-तम में !

सिखलाए मुझको जीवन के कोई रूप-प्रकार !

बुद्धि कल्पना के पंखो को
काट रही जब नियति कतरनी,
कर परकैंच कह रहे हो क्यो
जैसी करनी वैसी भरनी ?

तुम ही जानो अपनी माया, मेरे सिरजनहार !

मेरा गर्व चूर करने को
क्रूर बने हो, रहो क्रूर ही;
भटकाओ पथ की तलाश में
चाहो जब तक रहो दूर ही;

मैं लपेटता मोह-पाश तुम काटो बारम्बार !

आत्मबोध

हृदय में सताप मेरे, देह में है ताप!

कौन है जो बात पूछे?
कौन है जो अश्रु पोंछे!

अश्रु मेरे सूख जाते किन्तु अपने आप!

वात, पीले पात-सा जो
ले उड़ी थी दे भुलावा,
छोड कर चल दी मिला जब
उसे फूलों से बुलावा,

कर लिया हलका हृदय रो भींख कर चुपचाप!

मैं किसे अपना कहूँगा
कह रहा सुनसान भी जब,
'बंधु, जाओ, व्यस्त हूँ
मधुमास स्वागत-काज में अब!'

न हो कोई, मैं सुनूँगा स्वयम् आत्म-प्रलाप!

हो उठा करुणार्द्र सहसा
था कभी निप्ठुर वधिक जो,
आज समझा सुख वही है
यातना जब अत्यधिक हो,

इसी विधि वरदान बनता वाम विधि का शाप!

झूठ साबित हो रहे हैं
जिन्दगी के सब बहाने,
पर भटक कर भूल कर भी
पहुँचता जाता ठिकाने,

हो रहे अपने विराने, छीजते जाते पुराने पाप!

सांत्वना

हृदय क्यो कातर, विकल, अधीर ?

दुख की मिट्टी मे दब जैसे
दम घुटता तेरे जीवन का,
माना, दिव्य बीज भी खोया
मिट्टी मे मिट्टी के कन-सा;
पर ऊपर आता प्रसून हँस मिट्टी का उर चीर

आज रुके जल की गति तेरी
होती ऊब, आ रही मचली,
लहर मरी मानस के भीतर,
बाहर जल के जैसे मछली;
किन्तु हिमाचल के रोके भी रुका न सुरसरि-नीर

कारागार बना जो जीवन
कभी मुक्ति का पथ भी होगा,
शक्ति मिलेगी, बुद्धि मिलेगी
उतनी, था जितना दुख भोगा;
ताला-कुजी लिए घूमती प्राण-समान समीर

अपने से

ातना विनम्र हो, तू कठोर! तू उतना ही जीवन-शोभन!
बन मत गर्वोन्नत शैल-शिखर, यह श्रेयस्कर
—जो धो दे जग के श्रान्त चरण—तू बन सागर,
भू-भार न बन, ओ मन मेरे, बन रत्नाकर,
(द्रवीभूत हो जा, निष्ठुर! तज कर निज जडता के बंधन!

(तपे, क्षुद्र! तो मूल्यवान हो तेरी मिट्टी का कन कन!
जल अहंकार के ईंधन में; संस्कार जगे
ज्यो लपट उठे, ज्वाला से अंतर्बाह्य रँगे,
प्रत्येक आह से तेरा हृदय-दाह सुलगे,
उड जाय धुआँ, रह जाय क्षार, तू जडा जा सके ज्यो कुंदन!

(सहनशील हो यदि, अधीर! तो मधुर बने तेरा जीवन!
झर जायँ पत्र आशा के सब औ' स्वप्न-सुमन
मुरझा जाएँ, पर फलीभूत हो सूनापन!
फिर श्रीचरणों मे पूर्ण पका फल कर अर्पण
ार्थक हो तेरे जीवन का क्षण क्षण जो अब तक था निर्धन!

भेद

बंद कली-सा राज न तेरे
खोले से यो खुल पाएगा,
पर धीरज धर धीरे-धीरे
होगा जो आगे आएगा !

जहाँ कर्म-कारण का बंधन
देर सही, अंधेर नही है !
शाश्वत नियत नियति की गति मे
वधु, अबेर सबेर नही है !

कौन सत्य को खा सकता है ?—
धैर्य शर्त, भय-भ्रान्ति व्यर्थ है !
विश्वासी के पग न डिगे बस—
जहाँ सत्य संशय अनर्थ है !

आएगा जब समय, सत्य ही
हमे जगा भी देगा तत्क्षण,
हम ही उसके हाथ-पाँव है,
सत्य इष्ट, हम मात्र प्रयोजन !

जिज्ञासा

मै जीवित हूँ, क्या यह मेरी कायरता है?
या जड़ता है? या जीवन के प्रति ममता है?
या यह हाथ किसी का है जो मेरा-तेरा प्रतिपालक है?

मै जीवित हूँ, क्या यह मेरे मन का भ्रम है?
मायावश है? या यह बस साँसों का क्रम है?
या भटका कर बुला रहा जो अमिट सत्य का ध्रुवतारक है?

नींद नही आती, क्या कारण सोए भाग नहीं जगते है?
क्या साँसों की ढेरी को ढहते ढहते भी दिन लगते हैं?
है या कोई लक्ष्य अलक्षित जिससे यह गति भी सार्थक है?

जीवन-धारा

ऐसी मेरी जीवन-धारा !

जीवन-धारा इस ओर वही
प्रतिकूल किन्तु वहती समीर,
तृण-वसन अन्न-जल भी करते
संकेत उधर ही हो अधीर;

पर मुझको अपना पथ प्यारा !
ऐसी मेरी जीवन-धारा !

उन रवि-शशि आदि ग्रहों का जब
सब का अपना अपना पथ है,
क्या हुआ किसी निज के पथ पर
बढ़ता यदि यह जीवन-रथ है !

अपने पर मेरा क्या चारा ?
ऐसी मेरी जीवन-धारा !

पथ-भ्रष्ट हुआ, मैं नष्ट हुआ,
पर प्रिय था यह विश्वास मुझे,
सब कुछ जाए, सब मिट जाए,
बस आत्मा का दीपक न बुझे !

मै था न सत्य का हत्यारा !
ऐसी मेरी जीवन-धारा !

इतनी क्षमता मुझमें न हुई—
इस योग्य बनूँ, हूँ क्षमाशील,
पर फिर भी मन मैला न किया—
मैं सहनशील, मैं विनयशील !

रो रो कर पिया न जल खारा !
ऐसी मेरी जीवन-धारा !

कोसूँ औरों को, दोष न दूँ
अपने को, ऐसी थी न बान,
मै क्षुब्ध-प्राण, निर्वाण दूर
पर परदुख को समझा न त्राण,

जब माँगी मुक्ति मिली कारा !
ऐसी मेरी जीवन-धारा !

आषाढ़

पकी जामुन के रँग की पाग
बाँधता आया, लो, आषाढ़ !

अधखुली उसकी आँखों में
झूमता सुधि-मद का संसार,
शिथिल-कर सकते नहीं सँभाल
खुले लंबे साफ़े का भार,

कभी बँधती, खुल पड़ती पाग,
झूमता डगमग-पग आषाढ़ !

सिन्धु-शय्या पर सोई बाल
जिसे आया वह सोती छोड़,
आह, प्रति पग अब उसकी याद
खींचती पीछे को, जी तोड़

लगी उड़ने आँधी में पाग,
झूमता डगमग-पग आषाढ़ !

हर्ष-विस्मय से आँखें फाड़
देखतीं कृषक-सुताएँ जाग,
नाचने लगे रोर सुन मोर
लगी बुझने जंगल की आग,

हाथ से छुट खुल पड़ती पाग,
झूमता डगमग-पग आषाढ़ !

ज़री का पल्ला उड़ उड़ आज
कभी हिल झिलमिल नभ के बीच,
बन गया विद्युत-द्युति, आलोक
सूर्य शशि उडु के उर से खींच !

कौंध नभ का उर उड़ती पाग,
झूमता डगमग-पग आषाढ़!

उड़ गई सहसा सिर से पाग—
छा गए नभ में घन घनघोर!
छुट गई सहसा कर से पाग—
बढ़ा आँधी-पानी का जोर!

लिपट लो गई मुझी से पाग,
झूमता डगमग पग आषाढ़!

फागुन की आधी रात

है रँभा रही बछड़े से बिछुड़ी एक गाय,
थन भारी हैं, दुखते भी हैं !
आता गजनेरी साँड़ भटकता सड़कों पर, चलता मठार,
क्या वही दर्द उसके भी है ?

जा रही किसी घर के जूठे बरतन मलकर
बदचलन कहारी थकी हुई,
चौका-बासन सैना-बैनी मे बिता चुकी यौवन के दिन
काटनी उसे पर उमर अभी तो पकी हुई !

बज रहे कहीं ढप ढोल झाँझ, पर बहुत दूर
गा रही संग मदमस्त मजूरों की टोली,
कल काम-धाम करना सबको पर नींद कहाँ—
है एक वर्ष में एक बार आती होली !

इस भाँग-स्वाँग से दूर, बंद कमरे मे, चिन्ता मे डूबा
दार्शनिक एकरस एकाकी,
है सोच रहा यह जीवन क्या, मैं क्या, मेरी यह आत्मा क्या ?
सब कुछ खोजा, उत्तर न मिला, कुछ भी न बचा मथ कर बाकी

वह दूर और संसार दूर, सब विशृङ्खल, सब छाया-छल,
हैं बिछुड़ परस्पर सुबक रहीं दोनों निर्धन आत्मा-काया !
रोए शृगाल, बोला उल्लू, हिल गई डाल, चौंका कुत्ता
जो भूँक उठा अब देख स्वयम् अपनी छाया !

वासना की देह

विजय की प्यासी, ललकती, चमकती शमशीर !—
ऐसी देह !
पैठने को वीर प्रियतम के अचञ्चल वक्ष मे जो
प्रणय-पीड़ाधीर !—
ऐसी देह !
अधर कम्पित, वक्ष कम्पित,
प्यास से पीड़ित, अशंकित, विकम्पित सशरीर
व्याकुल वासना की देह !—
ऐसी देह !

पुलक-दल से लद गई वह देह,
रोम, तृष्णाकुल जगे ज्यों तीर—
वासना-विष मे बुझे जो तीर !
अग्निशर-शय्या, पडी है वासना की देह,
छिद गई है, बिंध गई है, वासना की देह !—
ऐसी देह !

व्यक्त वाणी से परे है; रुँध गई है पीर,
शून्य संज्ञा—उड़ गया उद्दाम आँधी मे विवश ज्यो चीर !
नग्न-नारी-देह, थर थर काँपती वह देह,
वसन-भूषण से परे वह वासना की देह !—
ऐसी देह !

नयन डोले—
नीड में ज्यों काँपते भय-ग्रस्त भीत चकोर
देख कर तूफ़ान जो अति वेग से गिरि-वन रहा झकझोर !
विजन के दो वायु-दोलित दीप-दृग ही हैं सजग अम्लान,
घिरे चहुँ दिशि सघन तम-सी,
वासना-तम से विमूर्छित वासना की देह !—
ऐसी देह !

वासना की देह !—
काँपती वह, दूर से आता प्रणय-घन देख,
काँपती वह कामिनी ज्यो दामिनी की रेख !
दामिनी-सी दमकती वह देह,
ऐसी देह !

विकल होकर नाचती पागल प्रतीक्षा,
प्रेम-घन-गर्जन हुआ घनघोर !
अग्नि मे जल दे चुकी प्रणयिनि परीक्षा,
नाचता प्रति रोम जैसे मोर !
काम से काँपी अचेतन देह,
केवल-वासना की देह !—
ऐसी देह !

पवन डोली,
काँपता प्रति अंग जैसे तरु-लता का !
पवन डोली,
खुली नभ मे श्याम मीनाक्षी पताका !

छा गया तम, छा गए घन, छा गया आकाश,
तड़ित चमकी विसुध जग सब, गुँथ गए युग पाश !
प्रणय-घन के तृप्ति-तम में नयन मूँदे
दामिनी-सी कामिनी वह वासना की देह !—
ऐसी देह !

ज्येष्ठ का मध्याह्न

ज्यों घेर सकल संसार, कुडली मार
पड़ा हो अहि विशाल,
आक्रान्त धरा की छाती पर
गुमसुम बैठा मध्याह्न-काल !

मध्याह्न-काल ज्यों अहि विशाल,
केन्द्र में सूर्य—
शोभित दिन-मणि से गर्वोन्नत ज्यों भीम भाल !
कर गरल-पान सब विश्व शान्त,
तृण-तरु न कहीं भय से हिलते—
जीवनीशक्ति, जैसे परास्त हो महामृत्यु से, पडी क्लान्त !

अधबुझी चिताओं के मसान के ही समान सर्वत्र शान्ति—
डिगती न तनिक तिल भर भी जो ज्यो भीषण भूधर दुर्निवार !
जब रण समाप्त ज्यों समरभूमि—
है दूर दूर तक धूलि-धूसरित ऊसर का विस्तृत प्रसार !

जड-जंगम के सोते जग की निश्चल छाती,
क्षय के रोगी के आख़िर दम घुटते दम-सी सब कहीं हुँमस
व्याकुल विषाक्त !
जो गिनी हुई या बची-खुची साँसें हैं, है वे भी दुर्लभ,
अब जगद्धात्री पयविहीन प्रस्वेदग्रस्त ज्यो मृत्युत्रस्त—
रग रग में विष हो गया व्याप्त !

लो, महानाश के विजय-नाद-सी, भस्मभूत सबको करती,
उठती लू ज्यों अहि-फूत्कार !
सामने—डसे मानव-शव-सा नीरव है भव का देह-भार,
नीरव—हत होते आहत के ज्यों तृषित कंठ से निकल न
पाती चीत्कार !

मर रहे प्यास से पक्षी-पशु, पर नहीं रहे अब प्यास बुझाने
को अधीर !
उर वसुन्धरा का फट न सका, भूतल पर से पर लोप हो गया
कहाँ नीर !

पहचान न पाओगे उनको—
अपने प्रेतों-से खड़े हुए हैं रूख सूख ठठरी ऐसे—
भीषण-भुजंग-फुफकार क्षार करती ले गई खींच सब सत जैसे !

धन-धान्य-पूर्ण थी वसुन्धरा,
धमनियों-शिराओं-सी नदियों-सरिताओं को लू सुखा गई जैसे
अजान !
वह गरज-गरज धू-धू करती बहने वाली अहि-फूत्कार—
लू—हर हर कर हरती चलती है विश्व-प्राण !

विषभरी भयावह फूत्कार—
भीषण बेरहम थपेड़ों से सबको पछाड़,
बेबस धरणी की छाती पर चर-अचर सभी को झुलस-जला
नीचे दबोच औ' कूट-कुचल कर मांस-हाड़,
लो, सहसा ठहर गई पल मे ज्यो महाशून्य मे महानाश
का-सा पहाड़ !

क्या जीवन का अवशेष कहो ?—
उपहास क्रूर अधरो पर धर, अपलक आँखों मे ज्वाला भर,
अजगर अब देख रहा है भव !
(देखा सगर्व) सामने पड़ा—उन्मूल, धूलि मे मिले पुराने बरगद-सा
ज्यो निखिल विश्व के पूर्ण पराभव का वैभव !

(देखा सगर्व) सब ओर रेत-सी सूखी हुई घास देखी,
देखा—तरुओ मे पत्ते भी तो नहीं रहे !

हरियाली, जो नीलम-प्याली से ढुलका दी नभ ने भू पर,
वह नहीं रही,
बीती बहार के फूलों की तब कौन कहे ?

देखा सगर्व;
चुप बैठ न पाया अब जीवन—
मृतप्राय पेड़ की कोटर से, लो, कॉव कॉव कर उठा काग !—
'जीवन-तरु का चिर-अजर पत्र,
उसको न जलाती प्रलय-ज्वाल,
उसको न डुबाते प्रलय-सिन्धु,
फिर भस्म उसे कैसे करती मध्याह्न-काल के विषधर की
विषभरी आग ?'—
यों कॉव कॉव कर उठा काग !

(देखा सगर्व) टूटी-सी एक झोंपडी है जिसके समीप
छप्पर छाता चुपचाप एक मरियल चमार !
सूखा शरीर, ऋण-रोग-शोक की कठिन मार से झुकी कमर,
पर गले फूस के छप्पर को छाता जाता मरियल चमार !
वह भी सँभाल लेगा आतप की विष-वर्षा का कठिन भार !

धीरे धीरे अब बीत चला मध्याह्न-काल !
ढल गई दुपहरी की बेला,
झुक गया सूर्य, झुक गया भाल !
ढल गई दुपहरी की बेला,
चल दिया किसी अज्ञात विवर को अहि कराल !
हो चुका पराक्रम पूर्ण,
हुआ अब दर्प चूर्ण,
अब बीत चला मध्याह्न-काल !

पंखड़ियाँ

पंखड़ियों-सी जीवन-घड़ियाँ !

जब जब सोचा बस मृत्यु शेष,
काँटो में कलियाँ खिल आती;
जीवन का क्रम रुकता न लेश,
झरती जाती, भरती जाती

जीवन-घड़ियों-सी पंखड़ियाँ !

पंखड़ियो-सी सुधि की कड़ियाँ !

जब मोह रोकता राह और
छिपते जीवन के ओर-छोर,
(सहसा बादल-से फट जाते)
खुलती सह विस्मृति की झकोर

सुधि की कड़ियो-सी पंखड़ियाँ !

पंखड़ियो-सी ये पंखड़ियाँ !

उससे ले ज्योति खोलती दृग
कलियाँ, जो मिट्टी निपट अंध;
इनकी जड़ जिसकी जड़ता में
उस पर न्यौछावर कर सुगंध

झरतीं पाटल की पंखड़ियाँ !